



# अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

एकात्म मानववाद अर्द्ध शताब्दी के उपलक्ष्य में आयोजित व्याख्यान  
प्राच्य भारतीय शिक्षा पद्धति एवं वर्तमान परिदृश्य

सोमवार, दिनांक 10 नवम्बर 2014,  
महावीर भवन, इलाहाबाद

व्याख्याता- सुश्री इन्दुमति काटदरे (संयोजिका, पुनरुत्थान विद्यापीठ, कर्णावती, अहमदाबाद)



शिक्षा के सन्दर्भ में विचार करते समय यह ध्यान देना आवश्यक है कि व्यक्ति वैसा ही होता है जैसी शिक्षा उसको मिली होती है। सीखने की प्रक्रिया तो श्वास शुरू होने के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। जन्म से वह सीखना प्रारम्भ करता है। बोलना सीखता है चलना सीखता है, खाना सीखता है, व्यवहार करना सीखता है। इसलिए व्यक्ति वैसा ही होता है जैसी उसकी शिक्षा होती है और समाज वैसा ही होता है जैसी उस समाज की शिक्षा व्यवस्था होती है। अतः विश्व वैसा ही होता है जैसी शिक्षा उसको बनाती है। अब इस सन्दर्भ को वर्तमान राष्ट्रीय और वैश्विक परिस्थिति के साथ जोड़ कर देखेंगे तो ध्यान में आयेगा कि हमारा देश हमारा समाज इतनी समस्याओं से ग्रस्त है। ऐसी चर्चा हम भी करते हैं और अखबारों में, पत्रिकाओं में, संचार माध्यमों में भी निरंतर होती रहती है। विश्व संकटों से ग्रस्त है यह हमारे अनुभव का विषय है तो इसके कारण को हमें शिक्षा में जोड़ना ही पड़ेगा। अगर हम यह कहेंगे कि व्यक्ति वैसा ही होता है जैसा वह सीखता है, तो फिर शिक्षा ऐसी क्यों है कि विश्व ऐसा व्यवहार करता है शिक्षा ऐसी क्यों है कि हमारा समाज ऐसा व्यवहार करता है जो समाज एवं विश्व के अनुकूल नहीं है। आये दिन हम भ्रष्टाचार की, अनाचार की, बलात्कार की शिकायत करते हैं। किसने उसको बलात्कार करने के लिए प्रेरित किया, किसने भ्रष्टाचार सम्भव हो सके ऐसी स्थिति निर्माण की ? ऐसी आर्थिक नीतियां और व्यापार की नीतियां क्यों बनीं कि बेराजगार भी बढ़ता जाये और आर्थिक भ्रष्टाचार भी बढ़ता जाये। यदि हम देखें तो कहीं न कहीं इन सबका स्रोत यूनिवर्सिटियों में है।

मैं एक बहुत सादी बात कहूंगी जब हम 11वीं-12वीं से या बी.ए. से अर्थशास्त्र पढ़ाना शुरू करते हैं तब बेस लाईन सम्पूर्ण पाठ्यक्रमों की अर्थशास्त्र की क्या होती है ? अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं ही है (Economics has nothing to do with ethics) यही सबसे पहले पढ़ाया जाता है। फिर इसका

धीरे धीरे करके विस्तार होता है, विकास होता है, इसकी तात्विक चर्चा होती है, अन्यान्य आयाम इसके चर्चा में आते हैं और वो धीरे-धीरे करके मानस में, विचारों में, विचारों से व्यवहारों में और व्यवहार से सर्वसामान्य लोगों की समझ तक ऐसे व्याप्त होते जाते हैं। परिणाम स्वरूप सामान्य यूनिवर्सिटी में न पढ़ा हुआ व्यक्ति भी कहने लगता है कि अरे भाई नीति-नीति करोगे, प्रामाणिकता-प्रामाणिकता करोगे तो दो पैसे कमा नहीं सकोगे। इस चिन्तन का उद्गम स्थान कहां पर है ? उद्गम स्थान तो पाठ्य पुस्तक में है, जहां से वो सामान्य व्यक्ति के व्यवहार तक आ गया और यह केवल बोलने की बात नहीं है, आज ऐसा ही होता है। फिर दूसरा अर्थशास्त्र के साथ जुड़ा हुआ दृष्टिकोण यह है कि पैसे की ही कीमत है, पैसे के आधार पर ही प्रतिष्ठा होती है। अतः पैसे के लिए सम्पूर्ण व्यवस्था की अर्थिक दृष्टि हो गई। **Everything to be sold now** सब का मार्केटाइजेशन हो गया है। विद्या बेचने के लिए है, धर्म बेचने के लिए है, सेवा बेचने के लिए है। अब सेवा, विद्या और धर्म ही बेचने लायक हो गया तो फिर अन्न, औषधि ये तो बेचने की वस्तु होगी ही इसमें कोई आश्चर्य ही नहीं है। परिणाम यह कहता है कि अन्न बिकने की वस्तु हो जाता है तो अन्न संकट पैदा होता है, पानी बिकने की वस्तु हो जाता है तो जल संकट पैदा होता है, औषधि बिकने की वस्तु हो जाती है तो अस्वास्थ्य बढ़ता है, रोग बढ़ जाते हैं। डॉक्टर का पहला व्रत यह होना चाहिए कि जहां डॉक्टर है वहां आसपास बिमारी नहीं होनी चाहिए। उसके स्थान पर चिन्तन ऐसा हो गया है कि वर्षा ऋतु आ गई वर्षा होगी और लोग बड़ी संख्या में बिमार होंगे, हमारा धन्धा अच्छा चलेगा। यह क्या है? यह नीति कहां से आयी कि **everything has to be sold, everything have to be valued in terms of money** । अब मूलरूप से अगर सोचेंगे तो पूरे समाज को चलाने वाली तीन सत्तायें होती हैं। एक होती है धर्मसत्ता या ज्ञानसत्ता, यानी हमारे यहां भारत में शिक्षा हमेशा धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करती रही है। दूसरी होती है राज्यसत्ता और तीसरी होती है अर्थसत्ता। इसमें सबसे ऊपर धर्मसत्ता होनी चाहिए, ज्ञान सत्ता होनी चाहिए। उसके अधीन राज्य सत्ता होनी चाहिए और उसके अधीन अर्थसत्ता होनी चाहिए तभी समाज ठीक चलता है, तभी सारे व्यवहार ठीक चलते हैं, सारी व्यवस्थायें ठीक चलती हैं, तभी सारी नीतियां ठीक बनती हैं। आज यह बिल्कुल उल्टा हो गया है, अर्थसत्ता सबसे ऊपर हो गई है। राज्यसत्ता भी अर्थसत्ता से ही चलने लगी है और यदि हम थोड़ा विचार करेंगे तो इन दोनों के अधीन ज्ञान सत्ता हो गई है। यूनिवर्सिटी कौन चलाता है? कक्षा में अध्यापक कोई एक विषय पढ़ाता है, लेकिन **he is controlled and directed regulated by some other forces**. वह ज्ञान की सत्ता नहीं है, चलाने वाली सत्ता दूसरी है। फिर समाज का अधःपतन तो होने ही वाला है, फिर समाज में अनीति और अनाचार तो फैलने ही वाला है।

आज शिक्षा क्षेत्र के सामने अगर सबसे बड़ी चुनौती है तो धर्मसत्ता का प्रतिनिधि बन कर अर्थसत्ता और राज्यसत्ता का मार्गदर्शन करने की स्थिति में आना। अगर हम समाज का भला चाहते हैं, अगर हम छात्रों का भला चाहते हैं, अगर हम यह सारी दुनिया ठीक चले ऐसा चाहते हैं तो फिर हमें यह तो प्रथम विचार करना ही पड़ेगा कि हम ज्ञान को बड़ा कैसे बनायें। बड़ा बनने के साथ दायित्व आता है। भारत का विचार ऐसा रहा है कि जो बड़ा है उसका दायित्व बड़ा होता है, अधिकार बड़ा नहीं होता। इस संदर्भ में भारतीय और अभारतीय दृष्टि और विचार धारा का थोड़ा विचार करना चाहिए। इस सृष्टि की रचना जब भगवान करने लगे तब भारतीय और अभारतीय दोनों जो कथायें हैं वह आधे तक समान चलती हैं। भगवान इस सृष्टि की रचना करने लगे तो पंच महाभूत बनाये, वृक्ष वनस्पति का निर्माण किया, पशु-पक्षी प्राणी, कीट-पतंग सब बनाये, लेकिन भगवान का मन नहीं भरा। उन्हें लगा कि अभी कुछ अच्छा चाहिए। अंत में जाकर उन्होंने मनुष्य को बनाया तो भगवान अपने ऊपर ही खुश हो गये कि हाँ ; अब ठीक है यह सर्वश्रेष्ठ मेरा सृजन है। भगवान अपने ऊपर भी खुश हो गये, मनुष्य के ऊपर भी खुश हो गये। अब दोनों विचारधारायें यहां से अलग होती हैं। दोनों विचारधाराओं में मनुष्य ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ सृजन है यह तो स्वीकार्य है, परन्तु अभारतीय भगवान ने मनुष्य को बुला कर कहा देखो तुम इस सृष्टि में मेरा सर्वश्रेष्ठ सृजन हो, यह सारी सृष्टि तुम्हारी उपभोग के लिए है। तुम इसका भोग करो और खुश रहो मजा करो। इसलिए अभारतीय मनुष्य और मानस यह सोचने लगा कि मुझे तो भगवान ने ही कहा है कि मैं

प्रकृति का, पशु-पक्षियों का, दूसरे मनुष्यों का, सबका अपने लिए उपयोग कर सकता हूँ, मार सकता हूँ। यदि प्राणियों को मार कर मुझे उनकी चमड़ी से कोट पहनना है तो कर सकता हूँ, इसमें हिंसा नहीं है, क्योंकि भगवान ने ही कहा है। मुझे अगर पंच महाभूतों का शोषण करना है तो कर सकता हूँ। मुझे प्राणियों को मार कर कास्मेटिक्स बनाना है तो बना सकता हूँ। अपराध बोध नहीं है, क्योंकि यह सब मेरे लिए ही तो बने हैं। भगवान ने पहले मेरे सुख के लिए सारी सृष्टि बनाई और फिर मुझे बनाया है और भगवान ने बताया है कि सबका उपयोग कर लेना यह न्यायोचित है। संसाधन के रूप में सबका उपयोग करना यह न्यायोचित हो गया कोई अपराध नहीं रहा।

भारत के भगवान ने मनुष्य को बुलाया और कहा मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ सृजन हो, मेरे प्रतिरूप हो, मैंने तुमको बनाया है। तुम सबसे बड़े हो इसलिए तुमसे जो भी छोटे हैं उन सबका रक्षण और पोषण करने का दायित्व तुम्हारा है। यानी कि तुम अपने सुख के लिए किसी को मार नहीं सकते, अपने सुख के लिए किसी का दुरुपयोग नहीं कर सकते। बड़े हो इसलिए छोटों का रक्षण करना पोषण करना तुम्हारी जिम्मेदारी बनती है। बड़ा होने के साथ अधिकार नहीं परन्तु कर्तव्य, दायित्व और त्याग यह जुड़ा हुआ है भारतीय चिन्तन में और बड़ा होने के साथ अधिकार जुड़ा हुआ है अमरतीय चिन्तन में। आज हम जितने भी विषयों में, जितने भी दृष्टिकोण से, जो-जो भी सिखाते हैं, उसमें बड़ों का अधिकार पहला अधिकार यह सूत्र रेखांकित हो गया है और जहाँ अधिकार रहता है बड़ों के साथ वहाँ सब बड़ा होना चाहते हैं। सब अधिकार चाहते हैं। जब सब अधिकार चाहते हैं तब संघर्ष होता ही है, संघर्ष से हिंसा होती है, हिंसा से विनाश होता है, सुख नहीं रहता। जहाँ ऐसा संघर्ष रहता है वहाँ उत्कर्ष नहीं होता, किसी भी काम में उत्कृष्टता नहीं होती, गुणवत्ता नहीं होती, प्रेम नहीं होता, त्याग नहीं होता, सेवा नहीं होती, इसलिए कल्याण भी नहीं होता। यह सब एक के साथ एक जुड़े हुए हैं। इसलिए आज भले ही हम वैश्विकता की बातें करें तो भी विश्व को भारत की दृष्टि से देखना और विश्व के साथ भारतीय विचार से व्यवहार करना यह हमारी शिक्षा का रेखांकित सूत्र होना चाहिए। तभी शिक्षा हमारा भी और दूसरों का भी भला करेगी। अभी ऐसा नहीं है। ऐसा क्यों नहीं है इसका भी इतिहास है। हमारी शिक्षा पद्धति जो ऐसी थी उसको अंग्रेजों ने सभी प्रकार से नष्ट कर दिया और अपनी शिक्षा पद्धति को थोप दिया और वही चलाया।

उन्होंने यह तीन बातें मुख्य रूप से कीं। सबसे पहले उन्होंने शिक्षा को राज्य के अधीन कर दिया। मैं वेदकाल की बात नहीं कर रही हूँ मैं पुराणकाल की बात नहीं कर रही हूँ, मैं तक्षशिला, नालंदा के काल की भी बात नहीं कर रही हूँ मैं 18वीं शताब्दी के अंत तक की बात कर रही हूँ। अधिकांश लोग जो यहाँ बैठे हुए हैं जानते ही होंगे कि धर्मपाल जी ने दस्तावेजों के सहारे बताया है कि 18वीं शताब्दी में भारत में 5 लाख की संख्या में प्राथमिक विद्यालय थे और शिक्षा आज सर्वशिक्षा अभियान के तहत जितनी व्यापक है उससे कहीं ज्यादा व्यापक थी। अंग्रेजों ने सबसे पहला कार्य क्या किया और उसे याद क्यों करना चाहिए, क्योंकि आज भी वैसा ही चल रहा है। अंग्रेजों ने सबसे पहले शिक्षकों के आधार पर चलने वाले सभी विद्यालय चाहे वे प्राथमिक हों या महाविद्यालय हों उन सबको बन्द करके स्वयं के अधीन कर लिया, स्वयं के नियंत्रण में कर लिया। सभी विद्यालय शासन संचालित, शासन नियंत्रित हो गये, यह पहली बात हुई। दूसरी बात हुई भारत में विद्या बेचने की चीज नहीं थी, पैसा नहीं लगता था, भारत में शुल्क नहीं लिया जाता था, गुरुदक्षिणा चलती थी। अंग्रेजों ने एक ऐसी सार्वत्रिक धारणा प्रसारित की कि जिस शिक्षा का शुल्क नहीं देना पड़ता, जो मुफ्त में है वह बेकार है। वह इतना बेकार है कि इसका पैसा कोई देने के लिए तैयार ही नहीं होता। उनको समझ में ही नहीं आता था कि मूल्यवान चीजों का पैसे से भारत में मूल्यांकन नहीं किया जाता। वह मूल्यवान है इसलिए उसका पैसे में शुल्क नहीं है, यह तो समझ में ही नहीं आता। उनको शिक्षा नष्ट करनी थी इसलिए उन्होंने सारा का सारा अर्थ सापेक्ष, अर्थ नियंत्रित किया। तीसरा कार्य जो उन्होंने किया वह भारतीय ज्ञानधारा के स्थान पर यूरोपीय ज्ञानधारा सार्वत्रिक कर दिया। कक्षा एक से यूरोपीय ज्ञानधारा शुरू कर दी और धीरे-धीरे उसमें पढ़े हुए लोगों के मन मस्तिष्क में

यह विचारधारा ऐसी बैठ गई कि धीरे-धीरे काव्य रचना भी वैसी ही होने लगी, कहानियों की रचना वैसी ही होने लगी, उपन्यासों की रचना भी वैसी ही होने लगी। 20वीं शताब्दी के एक गुजराती कवि की पंक्तियां बताती हैं “कवि कहता है कि अंग्रेजों को यहां भेजकर भगवान ने हमारे ऊपर बहुत उपकार किया है। बकरी भी जाती है तो उसका कोई कान नहीं पकड़ता है इतनी सुरक्षा हो गई है। “ए उपकार दयी ईश्वर नो” ईश्वर का हमारे ऊपर इतना उपकार है। “हरक रहे तू हिन्दुस्तान” हिन्दुस्तान तुमको तो खुशी मनानी चाहिए कि भगवान ने अंग्रेजों को हमारे यहां भेजा जिससे हमारा बकरी जैसा बेचारा प्राणी भी सुरक्षित है। यह रिफ्लेक्शन किसका है? यह पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से बचपन से जो विचारधारा प्रस्थापित हो गई उसके कारण है। यही सोच 1947 के बाद भी यही चल रहा है। ये तीन जो इसके आयाम हैं इन तीनों में से एक में भी बदलाव नहीं हुआ है। शिक्षा शासन के नियंत्रण में, रेगुलेशन में, उसकी नीतियों के तहत ही चलती है।

भारत की आज की सभी यूनिवर्सिटीज आक्सफोर्ड, कैम्ब्रीज के मॉडल पर बनी हैं। 1858 में अंग्रेजों ने यहां तीन यूनिवर्सिटी शुरू की मुम्बई यूनिवर्सिटी, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, मद्रास यूनिवर्सिटी। अंग्रेजों ने शिक्षा के विषय में देश भर में सवा सौ वर्ष के काल में जितना भी कार्य किया, यानी अंग्रेजों द्वारा भारत में शिक्षा को प्रस्थापित करने का प्रयास 1773 से शुरू हो कर 1857 तक इतना फैल गया, प्रतिष्ठित हो गया कि उन सब को कोआर्डिनेट करने के लिए, उनको समन्वित करने के लिए उन्होंने तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की। वे विश्वविद्यालय एडमिनिस्ट्रेटिव सेन्टर थे अध्यापन तो बाद में प्रारम्भ हुआ। 1857 में यह मुहर लग गई पूरी ब्रिटिश शिक्षा स्थापित हो गई उसके बाद 1866 से भारत में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयास शुरू हुए। राज नारायण बसू, श्री अरविन्द स्वामी, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्र पाल, और लाला लाजपत राय, निवेदिता बहुत सारे नाम हैं जिन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयास शुरू किये। ये सारे के सारे स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले शुरू हुए थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ये प्रयास आगे नहीं चले। यूनिवर्सिटी मॉडल वैसा का वैसा स्वीकार करके, अभारतीय ज्ञानधारा को आधुनिक ज्ञानधारा समझ कर आधुनिकता के नाम पर और दूसरा वैश्वकरण के नाम पर स्वीकार करके उसी प्रकार सब कुछ चल रहा है। अभी भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी हमारे माध्यम से वही अर्थशास्त्र पढ़ा रही है, वही समाजशास्त्र पढ़ा रही है, जिसमें सोशल कान्ट्रैक्ट के आधार पर समाज रचना होती है और विवाह भी एग्रीमेन्ट है। यह एग्रीमेंट कल्चर भारत का नहीं है। भारत में विवाह संस्कार है और संस्कार का आधार आत्मीयता है। आत्मीयता का भावात्मक पक्ष प्रेम होता है प्रेम का क्रियात्मक पक्ष त्याग और सेवा होता है और दूसरों के लिए कष्ट उठाना होता है तथा कितने लोगों को मेरे कारण से सुख मिलेगा ऐसा विचार होता है। त्याग और सेवा के व्यवहार में जहां दूसरों के लिए कष्ट करके, दूसरों को अपने से पहले देकर तथा स्वयं उपभोग न करके दूसरों को दे देने से अधिक आनन्द होता है। यह त्याग, सेवा और कष्ट का आधार मजबूरी नहीं आनन्द होता है। ईशावाश्योपनिषद् इसके लिए कहता है ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथः’। आज यह संस्कार नहीं चलता, यह सिद्धान्त परिवार जीवन में नहीं चलता, विवाह में नहीं चलता, व्यापार में नहीं चलता। भारत में व्यापार भी परिवार भावना से चलता था, बाजार भी परिवार भावना से चलता था। मार्केट की गुडविल अच्छाई के आधार पर बनती थी। व्यापारी ऐसा कहता था मेरी दुकान से कोई गंवार भी, छोटा बच्चा भी, अंधा भी, गलती से भी कोई गलत चीज ले गया तो मुझे शर्म आनी चाहिए और वो कभी भी मैं बदल कर दूंगा तो वो मेरी गुडविल है। ग्राहक और दूकानदार, मालिक और नौकर, राजा और प्रजा, अफसर और कर्मचारी पिता-पुत्र के सम्बन्ध से जुड़े थे, यह एक परिवार था। राजा भी प्रजा का पालक था इसलिए पिता था। पूरा समाज परिवार भावना से चलता था। यह भारतीय सम्बन्धों का आधार संस्कार है, यह एग्रीमेन्ट नहीं है। जहां पति-पत्नी भी एग्रीमेंट से जुड़ेंगे तो एग्रीमेंट करने के लिए और किसी के साक्षी के रूप में हस्ताक्षर चाहिए तब पति-पत्नी एक होंगे कैसे? जबकि विवाह तो पति-पत्नी की एकात्मता की साधना है और यह एकात्मता के विस्तार के रूप में वसुधैव कुटुम्बकम् तक जाती है। एग्रीमेंट के द्वारा यह संभव ही नहीं होगा और जहां यह संभव नहीं है वहां चिरंजीविता नहीं है। हम जानते हैं इतिहास प्रमाण है कि भारत चिरंजीवी है। भारत विश्व की सभी संस्कृतियों में सबसे लम्बी आयु वाला है। दुनिया में अनेक संस्कृतियाँ जन्मी भारत उनसे भी पहले था। वे काल के प्रवाह में

लुप्त हो गई उसके बाद भी भारत तो भारत है। केवल दूसरी एक संस्कृति भारत का मुकाबला कर सकती है प्राचीनता के रूप में दीर्घायु के रूप में वह है चीन की संस्कृति, परन्तु चीन में भी जब दुनिया में साम्यवाद का उदय हुआ तो चीन भी ताओ, कन्फ्यूसियस के चीन की जगह कम्युनिस्ट चीन बन गया। कम्युनिज्म भी गया दुनिया से तो फिर से चीन गौतमबुद्ध और ताओ का नहीं अमेरिकन चीन हो गया और आज अमेरिका के साथ स्पर्धा कर रहा है। केवल भारत ही है जो सभी संस्कृतियों से पहले भी भारत था और आज भी है और उस समय जिस श्रद्धा से गायत्री मंत्र का उच्चारण करता था उसी श्रद्धा से आज भी कर रहा है। यह चिरंजीविता कहां से आयी? यह चिरंजीविता हम जो संस्कार के आधार पर, प्रेम के आधार पर, आत्मीयता के आधार पर, सेवा और त्याग के आधार पर, न केवल पति-पत्नी, न केवल माता-पिता और संताने बल्कि पूरे समाज व्यवस्था की रचना बनाई गई थी और उसी आधार पर नीतियां बनाई थी इसलिए यह चिरंजीविता सम्भव हो पायी।

1947 के बाद भारत के नेतृत्व ने कहा कि देश सादगी, ग्रामीणीकरण और यह सब जो गांधी के द्वारा आदर्श रखे गये हैं उसके आधार पर नहीं चलेगा। भारत को पश्चिम की तरफ देखना पड़ेगा, भारत को आधुनिकता पर विचार करना पड़ेगा भारत को औद्योगिक क्रान्ती के सन्दर्भ में विचार करना पड़ेगा। आज भी विकास का रास्ता तो वही है हमें उस पर पुनर्विचार करने की बहुत आवश्यकता है। इस पुनर्विचार का प्रारम्भ विश्वविद्यालयों से ही होना अनिवार्य है। क्योंकि ज्ञान से ही सही दिशायें बनती हैं और सही दिशायें स्थापित होती हैं। इसलिए इन तत्वों को हमें पुनर्विचार करना है।

भारत में यह सिद्धांत और तत्त्वज्ञान कहां से आया? भारतीय सारी व्यवस्थायें और सारी नीतियां, यह सारा व्यवहार, जिसे अनपढ़ भी समझता है यह सब कहां से आया? एकात्म इस शब्द में आत्मा यह शब्द निहित है, केवल भारत विश्व में आत्मा की संकल्पना के आधार पर विचार करता है। इसलिए अगर विश्व की विचारधाराओं को अगर हम दो हिस्सों में बांटेंगे तो एक आत्मवादी विचार है और दूसरा अनात्मवादी विचार है। भारत का विचार आत्मवादी विचार है। आत्मा से शब्द बना है आत्मीयता, आत्मीयता से व्यवहार होता है अपनेपन का। अभी मैंने बताया त्याग, सेवा, प्रेम यही सब आधार होते हैं अपनेपन के। इसलिए हमारी सारी व्यवस्थायें मूल सूत्र लेकर चलती हैं कि चराचर में परमात्मा तत्व का वास है। इसलिए सभी प्राणियों के साथ वैसे ही पेश आओ जैसे वे आत्मतत्व का ही आविष्कार हैं। वृक्ष वनस्पति के साथ वैसे ही पेश आओ जैसे उसमें परमात्म तत्व का ही वास है, वह भी परमात्मा का अंश उतना ही है जितना हम हैं। इसलिए भारत के सभी व्यवहारों में, सभी जड़-चेतन पदार्थों की स्वतंत्रता के साथ एक नीति का सम्मान करना सिखाया गया। वह पाठ्यपुस्तकों में भी सिखाया जाता था, व्यवहार में भी सिखाया जाता था संस्कार भी उसके दिये जाते थे। ऐसी सार्वत्रिक उसकी व्यवस्था थी।

एक बहुत सामान्य सा उदाहरण मैं देना चाहती हूँ – हमारे एक संघचालक जी जो इंजीनियर थे और बड़ी कम्पनी में काम करते थे। एक बार उनके कारखाने में जर्मनी से मशीनरी आयी और बताने वाला व्यक्ति भी आया उन्होंने सारी मशीनरी सेट कर दी यहां के लोगों को सिखा दिया और गया। पाच-छः महीने के बाद एक मशीन बन्द पड़ गयी। यहां के इंजीनियरों ने बहुत प्रयास कर लिए लेकिन फाल्ट समझ में नहीं आता था। एक सामान्य साधारण मकैनिक देख रहा था उसने कहा मैं प्रयास करके देखूं। अब सब इंजीनियर की नाक चढ़ गई, हम फेल हो गये तो यह मैकेनिक क्या करेगा। लेकिन अब जर्मनी से जानकार बुलाना पड़ेगा यहां तक नौबत आ गयी थी, इसलिए सबने कहा तुम भी प्रयास कर लो। उसने कुछ किया और पांच मिनट में मशीन चालू हो गई। सब आश्चर्य में पड़ गये और पूछा, तुमको फाल्ट कहां है कैसे पता चला? उसने सादा सा उत्तर दिया मशीन मेरे साथ बात करती है। मशीन ने ही बताया कि फाल्ट कहां है और यह सत्य घटना है यह कल्पना की बात नहीं है। हमारा शिक्षाशास्त्र, हमारे अध्ययन प्रक्रिया का जो शास्त्र है वह कहता है कि आप अगर पदार्थ के साथ, व्यक्ति के साथ, विचार के साथ, घटना के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं, आप एक हो जाते हैं तो वह स्वयं अपना रहस्य हमारे समक्ष प्रकट करता है। यह बेसिक सिद्धान्त है ज्ञानार्जन का भी और व्यवहार का भी और पेश

आने का भी कि तादात्म्य का अनुभव करो। हमारी शिक्षा पद्धति में भी अध्ययन कैसे करना इसके सिद्धान्त आते हैं। उपनिषद् कहता है 'आत्मावारे श्रोतव्यो दृष्टव्यो मन्तव्यो निद्विध्यासितव्यम्' उसके साथ एकता स्थापित करो, तादात्म्य स्थापित करो। भाष्य कहता है 'श्रवण, मनन, निद्विध्यासन' श्रवण माने ज्ञानेन्द्रियों से शिक्षा ग्रहण करना, मनन माने अंतःकरण से उसके ऊपर विचार करना, चिन्तन करना और निद्विध्यासन माने उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करना, यह ज्ञानार्जन के चरण हैं। भाष्य कहता है "श्रवणात् दशगुणं मननं" श्रवण से जो ज्ञान मिलता है उससे दस गुना अधिक प्रभावी मनन से होता है। अतः मनन करो, चिन्तन करो। 'मननात् सहस्रत्र गुणं निद्विध्यासनम्' मनन से भी निद्विध्यासन हजार गुना अधिक प्रभावी है। तादात्म्य का अनुभव कर जब आप समाज में जाते हैं तो अनन्त गुना ज्ञानार्जन होता है।

अब ये केवल उपनिषद् की बात नहीं है मैं उन्नीसवीं शताब्दी का उदाहरण देती हूँ। मैंने एक पैराग्राफ पढ़ा जो श्री अरविन्द का था। उन पांच-छः पंक्तियों में लिखा था "जब किसी विचार को तुम समझ नहीं पा रहे हो कठिन लगता है तो विचार करना छोड़ दो, समझने का प्रयास भी छोड़ दो, एकात्म बन जाओ केवल उसी में ध्यान केन्द्रित करो, एक बार पढ़ो, पांच बार पढ़ो, दस बार पढ़ो पढ़ते रहो, पढ़ते समय विचार मत करो, पढ़ते समय समझने का प्रयास मत करो और एक समय में जब वह विचार अपने आप तुम्हारे सामने प्रकट हो जायेगा।" आज कल छात्रों को बहुत बातें कठिन लगती हैं, कोई नया विचार, हमको भी कठिन लगता है। श्री अरविन्द ने जो लिखा यह ज्ञानार्जन क्लिप्त होना जिसे कहते हैं वह लर्निंग सिस्टम है। ज्ञानार्जन की प्रक्रिया है और हमारे माध्यमिक विद्यालयों में महाविद्यालयों में इसके आधार पर ज्ञानार्जन की शिक्षा की योजना बनना अपेक्षित है।

दूसरा एक छोटे बच्चे का उदाहरण मैं देती हूँ। एक चार-पांच वर्ष का बेटा और मां दोनों घर में अकेले थे। एक दिन पहले बहुत हवा चली थी इसलिए कम्पाउण्ड में नारियल के पेड़ से छोटे-छोटे नारियल गिरे थे। बच्चे को खेलना था लेकिन मां को बच्चे को बाहर कड़ी धूप में जाने नहीं देना था। तो दोनों ने मिलकर वो छोटे-छोटे नारियल इकट्ठे किये और घर में लाये। मां ने कहा कि यह नारियल गिनो कितने हैं उसने गिना तो सोलह थे। मां बैंक में कार्यरत थी परन्तु स्वभाव शिक्षक का रहा होगा। अब मां ने कहा कि नारियलों की दो पंक्तियों में रचना करो और दोनों में समान आना चाहिए। बालक को मालूम नहीं था क्या करना है, इसलिए उसने पहली पंक्ति शुरू कर दी और ग्यारह नारियल रख दिये। अब बाकी बचे पांच दूसरी पंक्ति में रख दिये। मां ने कहा गिनो समान तो नहीं हुए। उसने अनेक बार प्रयत्न किये लेकिन आठ-आठ नहीं हुए। इसलिए मां ने क्लू दिया, ऐसा करो पहली पंक्ति में एक रखो, दूसरी पंक्ति में एक रखो, दूसरी पंक्ति में एक रखो फिर पहली पंक्ति में दूसरा रखो। इस प्रकार किया तो आठ-आठ हो गये। अब मां ने कहा तीन बराबर-बराबर करो। प्रक्रिया तो उसने वही लागू किया लेकिन हो नहीं रहा था। मां ने फिर कहा चार बराबर-बराबर करो। उसने उसी युक्ति से चार बराबर-बराबर कर दिये। दो-तीन बार दोहराया पहली पंक्ति में चार थे, दूसरी पंक्ति में चार थे, तीसरी में चार थे, चौथी में चार थे। मां ने पूछा कितनी पंक्तियां हैं? उसने कहा चार। प्रत्येक पंक्ति में कितने नारियल हैं? चार। ऐसा करते-करते तीन बार गिना तो वह एकदम खड़ा हो गया और जोर से चिल्लाया- चौकू-चौकू सोलह। यह क्या है? चार का पहाड़ा। चार का पहाड़ा चार गुना चार सोलह होता है। वह रटा था लेकिन समझा नहीं था। लेकिन यह क्या हुआ दर्शन हुआ अनुभूति हुई कि अरे हां, हम चौकू-चौकू सोलह जो रट रहे थे वह ये है। ऐसे होता है चौकू-चौकू सोलह। उसे किसने सिखाया, कैसे सीखा? यह उसी को अन्दर से अनुभूति थी। इसको कहते हैं अनुभूत ज्ञान यह क्लिप्त होता है। यह आनन्द होता है।

आइन्स्टाइन ने जब कहा था रिवेका-रिवेका तो वह रियलाइज हुआ था, इसलिए दक्षिणा मूर्तिस्तोत्र में लिखते हैं "विचित्रं वट तरुमूले वृद्धाः शिष्या, गुरुर्युवा गुरुस्तु मौनव्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्न संशया"। कैसा आश्चर्य है वट वृक्ष के नीचे गुरु और शिष्य बैठे हैं। अध्ययन-अध्यापन चल रहा है। शिष्य वृद्ध हैं और गुरु युवा हैं। गुरु मौन हैं लेकिन शिष्यों के सारे संशय समाप्त हो गये। यह क्या है? अन्दर से ज्ञान का आदान-प्रदान। यहां तक भारत गया है, यहां तक भारत जा सकता है। यह सारा कक्षा कक्ष में आज भी घटित हो सकता है, 21वीं शताब्दी

में भी हो सकता है। अध्यापक और अध्येता ऐसे चाहिए। ऐसे अध्यापक और अध्येता तथा ऐसी अध्ययन प्रक्रिया से भारतीय ज्ञानधारा के आधार पर जो ज्ञान का आदान प्रदान होता है वही शिक्षा व्यक्ति का, समाज का, देश का, विश्व का कल्याण करती है। यह जो आत्मतत्त्व के आधार पर सारी शिक्षा की रचना है यह भारत की विशेषता है, यह भारत का भारतीयपना है।

दूसरा बिन्दु है अध्ययन और अध्यापन में अध्ययन प्रमुख है। अध्यापन, अध्ययन का अनुसरण करता है। तैत्तरीय उपनिषद् में समीकरण आते हैं 'आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं संधानम्।' शिक्षा उसी को कहते हैं जो पढ़ने वाले और पढ़ाने वाले के बीच में आदान प्रदान होता है। तो आचार्य और छात्र का सम्बन्ध कैसा है? उन्होंने उदारहण देकर बताया कि जिस प्रकार भाषा में सन्धि होती है, जैसे गणेश शब्द है, वह दो शब्दों का बना हुआ है। गण और ईश, लेकिन गण का अ और ईश का ई यह दो शब्द जो हैं उनकी सन्धि होकर तीसरा शब्द बनता है गणेश। अब यह दो शब्द नहीं रहे यह एक शब्द बन जाता है। गण पूर्व रूप है आचार्य पूर्व रूप है ईश उत्तर रूप है अन्तेवासी शिष्य उत्तर रूप है। दोनों की सन्धि प्रवचन अर्थात् अध्ययन-अध्यापन से दोनों मिलते हैं और परिणाम उसकी विद्या है। किसका परिणाम विद्या है? आचार्य और छात्र के आत्मीय सम्बन्ध का परिणाम विद्या है। कोई भी परिस्थिति हो आचार्य और छात्र का आत्मीय सम्बन्ध आवश्यक है। शिष्य यदि अध्यापक का मानस पुत्र नहीं हुआ, उनके बीच में आत्मिक सम्बन्ध नहीं बने तो निष्पन्न ज्ञान नहीं होता और कुछ होता है। आज यह ज्ञान को छोड़ कर और कुछ ही उत्पन्न हो रहा है। इसलिए कैसी भी परिस्थिति हो हमें आचार्य और छात्र के आत्मीय सम्बन्ध पर विचार करना पड़ेगा। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। शिष्यों को आचार्यों के प्रति आदर, विनय, सेवा और आज्ञा पालन करना पड़ेगा। भगवद्गीता में कहा है 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' सेवा करो, जिज्ञासा से प्रश्न पूछो और प्रणीपात करो अर्थात् सभी प्रकार से आदर दर्शाओ।

प्रथम आदर और दूसरा चरित्र कैसा होना चाहिए, जिसके विषय में कहा गया है "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः"। छात्रों में यदि इन्द्रिय संयम नहीं है तो ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। श्रद्धा नहीं है तो ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तत्परता अर्थात् जब भी आचार्य कहें तब पढ़ने के लिए तैयार विद्याध्ययन करने के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं है तो ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आज हम देखते हैं कोई श्रद्धा नहीं है, तत्परता नहीं है, विनय नहीं है, जिज्ञासा नहीं है, परिप्रश्न नहीं है, सेवा नहीं है, तो फिर जो मिला वह ज्ञान को छोड़कर और कुछ होगा। किसी भी बात को कुछ भी कह देना नामकरण कर देना इसे कौन रोकता है। जो ज्ञान नहीं है उसको ज्ञान कहने से कौन मना करेगा। जैसे राष्ट्रीय-राष्ट्रीय शब्द तो बोल दिया लेकिन वह राष्ट्रीय होता ही है यह आवश्यक नहीं है उसी प्रकार हम ज्ञान-ज्ञान करेंगे और वह ज्ञान होगा ही ऐसा तो नहीं है। आज के संदर्भ में चार प्रकार के शिक्षक होते हैं। एक होते हैं विषय के शिक्षक। यह तो हमें मालूम है हम भूगोल पढ़ाते हैं, अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं, विज्ञान पढ़ाते हैं भाषा पढ़ाते हैं। दूसरे होते हैं छात्रों के शिक्षक। मेरे छात्र की क्या कठिनाई है उसका विकास कैसे हो रहा है उन्हें यह चिन्ता का विषय बनता है। लेकिन आज यह नहीं होता क्यों होगा जब एग्रीमेंट के सम्बन्ध हैं तो भावना ही नहीं यह स्वाभाविक है। तीसरा होता है राष्ट्रीय शिक्षक, इस देश की जीवन दृष्टि क्या है, इस देश की परंपरा क्या है, इस देश के संस्कार क्या हैं, यह मेरी नीति है कि नहीं, राष्ट्र के नाते मैं भारत को जानता हूँ कि नहीं, राष्ट्र के नाते इस देश की परंपरा क्या है, यह जानता हूँ कि नहीं वह अपने विषय के माध्यम से मैं दे पा रहा हूँ कि नहीं, इसका विचार करने वाला राष्ट्रीय शिक्षक होता है। और चौथे प्रकार के शिक्षक होते हैं वेतन के शिक्षक। उनकी सोच होती है कि हमें इतना ही वेतन मिलता है तो हम इससे अधिक कैसे पढ़ायें। दो प्रकार के शिक्षक तो मिलते हैं, विषय के शिक्षक भी हैं और वेतन के शिक्षक परन्तु छात्रों के शिक्षक और राष्ट्रीय शिक्षक जब तक नहीं बनेंगे तब तक शिक्षा भारतीय नहीं बनेगी। जब तक आचार्य के प्रति अत्यांतिक आदर की भावना से युक्त विनयशील, सेवा करने के लिए तत्पर, श्रद्धावान, और संयमित जीवन जीने वाले छात्र नहीं होंगे तब तक भी शिक्षा भारतीय नहीं होगी। भारतीय शिक्षा के लिए यह दोनों अनिवार्य हैं। इनको



छोड़कर किसी भी प्रकार की अच्छी शिक्षा की कल्पना हम नहीं कर सकते। यह कैसे सम्भव हो सकेगा यह हमारे लिए विचारणीय विषय तो हैं ही और चिन्ता का भी विषय हैं।

चौथा मुद्दा हमारे सामने चुनौतियां क्या हैं। शिक्षा स्वायत्त नहीं है और बहुत जल्दी होने वाली भी नहीं है। कम प्रयासों से भी होने वाली नहीं है और व्यक्तिगत प्रयासों से तो बिल्कुल भी होने वाली नहीं है। दो बातें इसके लिए आवश्यक हैं। कैसे होगी वह हमें देखना है। पहली बात है शिक्षक को दायित्वबोध होना। यह छात्र, यह ज्ञान और यह समाज और देश हमारे कारण से ऐसा चल रहा है और हमारे कारण से वह अच्छा चलेगा। दायित्वबोध यानी दायित्व को स्वीकार करने की मनःस्थिति आज व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक शिक्षक में आने की आवश्यकता है। दूसरा इस शिक्षा को स्वायत्त बनाने के लिए सामूहिक प्रयास भी करने पड़ेंगे, क्योंकि ज्ञान की सर्वोपरिता जबतक स्थापित नहीं होगी तबतक व्यक्ति, देश—दुनिया ठीक से चल ही नहीं सकती। पिंजरे के अन्दर रह कर हम कितनी भी अच्छी बातें करें वो अच्छी नहीं होती। जो मजबूरी में गुलामी में करनी होती है वह मूलतः अच्छी हो ही नहीं सकती। दूसरी चुनौती है शिक्षा का विचार एकान्तिक नहीं हो सकता। समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था और अर्थव्यवस्था कम से कम इन तीन बातों के सन्दर्भ में ही शिक्षा का विचार करना पड़ता है। अर्थ व्यवस्था नहीं बदली, समाज व्यवस्था नहीं बदली और राज्य व्यवस्था नहीं बदली तो केवल शिक्षा में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन अर्थव्यवस्था को बदलेगा कौन? राज्य व्यवस्था को समाज व्यवस्था को बदलेगा कौन? इसका जिम्मा समाजशास्त्र के अध्यापकों को लेना पड़ेगा। यूनिवर्सिटीज के बोर्ड ऑफ स्टडीज में विचार करना पड़ेगा। सिद्धान्त, आईडियोलॉजी, जानकारी इन सबके विषय में विचार करना पड़ेगा। यह हमारा दायित्व है, अर्थशास्त्र के अध्यापकों को केवल दो सूत्र भी तुलना के लिए सामने रख कर फिर विचार करना पड़ेगा। एक तो मैंने कहा था – **Economics has nothing to do with ethics** के इम्प्लिकेशन्स क्या हैं और दूसरा है भारतीय विचार – **अर्थशास्त्रात् तु बलवत धर्मशास्त्रे स्मृतः।** अर्थशास्त्र से भी धर्मशास्त्र बलवान है अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन ही होना चाहिए। हम अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन बनाने के लिए क्या—क्या कर सकते हैं। इसका चिन्तन करने की जिम्मेदारी अर्थशास्त्र के बोर्ड ऑफ स्टडीज से शुरू होती है। अर्थशास्त्र पढ़ाने वालों से शुरू होती है, अर्थशास्त्र पढ़ने वाले तक पहुंचती है और अर्थशास्त्र में शोध करने वाले तक यह जाती है। सब लोग मिल करके यह करेंगे तो आज नहीं तो पच्चीस वर्ष में एक पीढ़ी में होने वाला यह काम है।

ऐसे लोगों को द्विधा मनःस्थिति में रहना पड़ेगा मानसिक वैचारिक संघर्ष होगा कि वे परीक्षा के लिए पढ़ा रहे हैं **Economics has nothing to do with ethics** लेकिन अपनी बुद्धि और मन में जानते हैं **अर्थशास्त्रात् तु बलवत धर्मशास्त्रे स्मृतः।** वे जो जानते हैं और कहते हैं इन दोनों में विरोध है। यह समझकर कि जो गलत है वह करना मजबूरी है और जो सही है वह कैसे कब हम कर सकेंगे इसकी कुछ योजना बनाना, ऐसे दोनों काम हमें स्वयं करने ही पड़ेंगे। शिक्षकों के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग होता है। आचार्यों को गुरु की उपाधि मिली है, गुरु का सम्मान होता है और गुरु सबसे बड़ा माना जाता है। बड़ों को किसी के आगे रोना रोने का अधिकार नहीं होता है। गुरु के आगे सारे रोना रोयेंगे, गुरु के आगे सब अपनी अपनी शिकायतें करेंगे। गुरु किसके सामने करेगा? जिस दिन वह दूसरे को जिम्मेदार ठहरायेगा, जिस दिन वह दूसरे के सामने रोना रोयेगा, उस दिन वह गुरु नहीं रहेगा, फिर उसका सम्मान नहीं रहेगा। इसलिए किस नीति और योजना से हमको चलना पड़ेगा इसके लिए अध्ययन करना पड़ेगा। अध्ययन करने के लिए हमारे पास सामग्री तो बहुत उपलब्ध है परन्तु आज की शिक्षा में वह अप्रासंगिक है, उसका कहीं संदर्भ के नाते उपयोग ही नहीं है। इसलिए उन्हें अप्राप्य दुर्लभ पुस्तकें मानकर किन्हीं ग्रन्थालयों में रख दी जाती हैं, जिसकी कभी संदर्भ सूची भी नहीं बनती। क्योंकि शोध नहीं लिखे जाते, पाठ्यक्रम नहीं बनते, इसलिए संदर्भ के नाते इन पुस्तकों की ग्रन्थों की सूची भी नहीं बनती। अतः हमें लगता है कि सामग्री नहीं है। सामग्री है बहुत कुछ लिखा गया है।

मैं प्राचीन काल की बात नहीं कर रही हूं। आज से सौ वर्ष पूर्व के भी यदि आप ग्रंथों की सूची देखेंगे तो ध्यान में आयेगा कि सौ वर्ष पहले विशेष रूप सामाजिक शास्त्रों में कितना अध्ययन किस सरोकार से किस



चिन्ता से हुआ है। उदाहरण स्वरूप दैशिक शास्त्र को ही ले लीजिए। यह ग्रन्थ 1921 में प्रकाशित हुआ है, बहुत छोटा सा है, परन्तु मूल विचार उसमें है। भारत में अंग्रेजी राज्य यह पुस्तक तो इतिहास के अध्यापकों को मालूम होगी। इसे सबको पढ़ना चाहिए। भारत में अंग्रेजी राज्य 1921 में प्रकाशित हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उसके ऊपर प्रतिबन्ध लगाया, 1954 में भारत सरकार के सांस्कृतिक विभाग ने इसका पुनः प्रकाशन किया आज इसका पुनर्मुद्रण हुआ है। लेकिन इतिहास के एक भी पाठ्यक्रम में इसके संदर्भग्रन्थ के रूप में इसका स्थान नहीं है, क्योंकि उस प्रकार का इतिहास ही हमारे पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है। हिन्दू का समाज रचनाशास्त्र बहुत बड़ा वाल्यूम है और बहुत मूल बातों की उसमें तात्विक दृष्टि से चर्चा है। इसमें पाश्चात्य समाज चिंतकों के सैकड़ों ग्रन्थों का संदर्भ लेकर यह विवेचन किया गया है कि हिन्दूओं का समाज रचनाशास्त्र, हिन्दू भारतीय विवाहशास्त्र, आदि का विवेचन किया गया है। हिन्दूओं का अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र 1921 में प्रकाशित हुआ है। धर्मपाल जी ने तो बाद में ब्रिटिशों के इकट्ठे किये हुए डाक्यूमेंट के आधार पर ग्रन्थ तैयार किये हैं। ऐसे डाक्यूमेन्ट्स उपलब्ध हैं ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो औपनिषदिक और पारंपरिक चिन्तन के आधार पर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे गये हैं। इतना डिस्कोर्स हुआ है इस चिन्ता के साथ कि भारत के युवकों को यह सब पढ़ना चाहिए। इसके आधार पर प्राथमिकशाला की पुस्तकें बनी हुई हैं। सौ वर्ष पहले भी कक्षा एक और दो की गुजराती भाषा की पाठ्यपुस्तक मैंने देखी उसके रचयिता का नाम जब मैंने पढ़ा तो मुझे आश्चर्य भी हुआ और चिन्ता भी हुई। उसके रचयिता का नाम था कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी। संयोग से यह नाम मैंने और किसी संदर्भ में भी पढ़ा था। एक तो वे उस समय के राज्य के शिक्षा निदेशक थे। अतः उस समय शिक्षा निदेशक जैसे पद का व्यक्ति कक्षा एक की, दो की पाठ्यपुस्तक की रचना करता था। मैं संस्कृत में एम.ए. कर रही थी तो दर्शनशास्त्र उसका एक विभाग था। ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य पढ़ाते समय हमारे अध्यापक ने बताया था कि उत्तर संदर्भ ग्रन्थ अगर आप को चाहिए तो कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी का ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य पढ़िये। माने ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य पर ग्रन्थ लिखने वाले शिक्षा निदेशक राज्य की कक्षा एक की पाठ्यपुस्तक तैयार करता था।

आज स्थिति ऐसी है कि रिसर्च कराने वाले पीएच.डी. के गाइड, अथवा मास्टर डिग्री को पढ़ाने वाले या अण्डर ग्रेजुएट को पढ़ाने वाले पाँच, सात, दस वर्ष के बच्चों के लिए कौसी शैली चाहिए नहीं जानते। उनका कहना है कि नहीं भाई हम नहीं लिख सकते, नीचे नहीं उतर सकते। कक्षा एक और दो की चिन्ता करना यह नीचे उतरना है, हम छोटे हो जायेंगे। प्राथमिक शाला के शिक्षक वे बेचारे कैसे इन सारी बातों के आधार पर पुस्तक तैयार करेंगे। यह प्रैक्टिकल जो कठिनाई है, इसको कैसे पाटना इसका विचार यूनिवर्सिटी में होने की आवश्यकता है। क्योंकि ज्ञान को सर्वसामान्य लोगों तक पहुंचाना, ज्ञान को नीचे तक पहुंचाना, शिक्षा की श्रेणी में यह दोनों बातें जबतक नहीं होतीं तब तक अनेक कठिनाई होती है। शिशुअवस्था में जो संस्कार होते हैं वे चरित्र के वह भाग हो जाते हैं। बड़ी आयु में कुछ भी बौद्धिक रूप से हम सीख लें लेकिन इन संस्कारों के विरुद्ध तब भी नहीं कर सकते। दत्तोपंत जी एक उदाहरण देते थे कि मैं एक साधू महाराज के सामने बैठा था उनका एक शिष्य बड़ा अलमस्त और सबको डाटता हुआ घूम रहा था, लेकिन थोड़ी देर में मैंने देखा कि वह डर रहा है और कोने में छिप रहा है, क्योंकि वह बिल्ली से डरता था। वह बिल्ली से क्यों डरता था? बचपन में उसके ऊपर ऐसे संस्कार हुए थे कि मां और पिताजी हमेशा कहते थे कि चुप रहो नहीं तो बिल्ली आकर ले जायेगी। वो डरने के संस्कार ऐसे हो गये कि वह बड़ी आयु में भी डर रहा था। उस संस्कार के स्तर पर हम यह चिन्तन कैसे लायेंगे इसका विचार करना है। बाल्यकाल में पाँच, सात, दस वर्ष की आयु में आदतें बनती हैं। उस समय यदि आदत विपरीत बनी तो बड़े होने के बाद बुद्धि से कुछ भी सीख लिया तो भी आदत नहीं बदलेगी और ये आदतें क्रियात्मक रूप से सिखानी होती है। पर्यावरण में शरीर विज्ञान में और स्वास्थ्य विज्ञान में पढ़ाया जाता है, सीधा बैठना चाहिए, सीधा क्या होता है? समंकायम् शिरोग्रीवं होता है। इससे क्या होता है? तो श्वसन मार्ग दबता नहीं है, इसलिए श्वसन ठीक होता है, अतः सीधे बैठना चाहिए। लेकिन पढ़ाया किसके लिए जाता है? परीक्षा में फिल इन द ब्लैक्स पूछा जायेगा तो उसको भरने के लिए। इसलिए फिल इन द ब्लैक तो सही होता है और नम्बर भी मिल जाता है, लेकिन जिन्दगी भर टेढ़े ही बैठते हैं और सीधा होने में कष्ट होता है, टेढ़े होने में आराम लगता

है। हमारी सबकी यही स्थिति होती है कि सीधा बैठने को कहो तो कमर दर्द करती है, घुटने दर्द करते हैं, कंधे दर्द करते हैं टेढ़े बैठने में आराम मिलता है। जैसी शरीर की स्थिति है वैसी मन की स्थिति है सीधा होना पड़ता है तो कई प्रकार के कष्ट होते हैं और टेढ़े में सुविधा होती है, आराम होता है। आदतें ऐसे बनती है।

इन सारे विषयों को व्यावहारिक बनाना। जब विद्यार्थी तर्क करने लगता है तब सारे विषयों को उपदेश के रूप में नहीं चर्चा के रूप में लाना। क्यों यन्त्रों से पैदा हुई वस्तु का प्रयोग नहीं करना? क्यों बड़े कारखाने में पैदा हुई चीज का प्रयोग नहीं करना? क्यों कारीगर के हाथ से बनाये हुए जूते और दर्जी के सिले हुए कपड़े पहनना? अगर हम यन्त्रों से बने हुए कपड़े, जूते पहनते हैं, यदि हम रबर, प्लास्टिक के जूते पहनते हैं, यदि हम बड़े कारखानों में बने जूते पहनते हैं तो हम दर्जियों का अपराध कर रहे हैं, हम पर्यावरण का अपराध कर रहे हैं, हम मानवता का अपराध कर रहे हैं। सुविधा तो होगी लेकिन सुविधा किस कीमत पर यह प्रश्न पूछना किशोर अवस्था में सिखाया जाता है। हमारे अर्थ चिन्तन को, समाज चिन्तन को, राज्य चिन्तन को हाईस्कूल कक्षाओं में चर्चा के रूप में तर्क के रूप में लाना पड़ेगा और चिन्तन मूल्यांकन और निष्कर्ष के रूप में महाविद्यालयों में लाना पड़ेगा। शिशु से लेकर युवा अवस्था की शिक्षा का एक क्रम बना कर किसी भी विषय को इन विभिन्न स्वरूपों में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। इसका प्रारम्भ कौन करेगा? इसका प्रारम्भ भी युनिवर्सिटी में होगा। नीचे के लोगों से अपेक्षा नहीं की जा सकती। बड़ों को छोटों को सिखाना होता है। किसी भी देश की जो भी स्थिति बनती है उसका सारा केन्द्र और स्रोत विश्वविद्यालय होते हैं और विश्वविद्यालय माने विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले अध्यापक और पढ़ने वाले छात्र होते हैं। इस दृष्टि से हमें उच्च शिक्षा के बारे में और सामान्य शिक्षा के बारे में ऐसा विचार करना पड़ेगा।

भारत के ज्ञान क्षेत्र के सामने, विचार क्षेत्र के सामने, शिक्षा क्षेत्र के सामने यह सारी चुनौतियां हैं। भारत का दायित्व इसलिए बनता है कि युगों से पूरे विश्व का ज्ञान, संस्कार, कला— कारीगरी, हुनर, जीवन—जीने की शैली इन सभी विषयों में भारत ही सारे विश्व का मार्गदर्शन करता आ रहा है और आज भी विश्व हमसे यह अपेक्षा करता है। कहते हैं ग्लोबलाइजेशन का जमाना है और पूरी दुनिया छोटी हो गयी है। दुनिया छोटी हो गयी है तो हमें सिखाना आसान होना चाहिए। हम ऐसे ही तो दुनिया में गये हैं। मुझे नया कहने की आवश्यकता नहीं है। पांच सौ वर्ष पहले यूरोप के लोगों के मन में आया हम दुनिया में फैल जायेंगे। उनकी गरीबी, उनकी कठिनाई यही सारा कारण था। वे निकले, इधर से कोलम्बस निकला, उधर से वास्कोडिगामा निकला, अफ्रिका में गये, अमेरिका को ही इण्डिया मान लिया और उन्होंने वहीं पर कालोनी बना दी। भारत में भी आये और भारत से आगे दक्षिण एशिया तक भी गये। वे सब जगह फैल गये। जहां—जहां गये वहां—वहां उन्होंने लूट की, विनाश किया, गुलाम बनाया, लोगों को मार दिया। मैं उसके प्रमाण नहीं देना चाहती। उसका प्रमाण हैं धर्मपाल जी की पुस्तकों में। मार दिया दास बनाया, अत्याचार किया पांच सौ वर्षों में पूरी दुनिया त्राहिमाम करने लगी। आज हम देख रहे हैं दुनिया की क्या स्थिति है। हजारों वर्ष पहले भारत के वीर लोग राजा, महाराजा, कारीगर, व्यापारी, ऋषि पूरी दुनिया में गये इसके भी प्रमाण हैं। दुनिया के सभी देशों में आज भारत के मंदिरों के कलाकारी के अवशेष आज भी मिलते हैं। इसलिए प्रमाण है कि भारत के लोग भी सारी दुनिया में गये, लेकिन किस भावना से गये? हमारे पास ज्ञान है दुनिया को ज्ञान देंगे, हमारे पास संस्कार है दुनिया को संस्कार देंगे, हमें वस्त्र पहनना आता है हम दुनिया को वस्त्र पहनना सिखायेंगे, हमारे पास कला—कारिगरी है हम दुनिया को भी कला—कारिगरी देंगे। हम जिस प्रकार से श्रेष्ठ हैं वैसे दुनिया को श्रेष्ठ बनायेंगे। कुर्वन्तोविश्वमार्य के उद्घोष के साथ विश्व को आर्य बनाने के लिए भारत विश्व में गया और दुनिया को दास बनाने के लिए पश्चिम पूरे विश्व में गया। भारत चिरंजीवी है पश्चिम दुनिया को मार कर स्वयं भी मरने की दिशा में जा रहा है, यह अन्तर है। इसे हम आधुनिकता न कहें, इसे हम वैश्विकता न कहें। हमेशा से जो भगवान ने भारत को दायित्व दिया है कि ज्ञान के माध्यम से, संस्कारों के माध्यम से विश्व को अपने ही जैसा श्रेष्ठ बनाओ। यह दायित्व पांच हजार वर्ष पहले भी था, आज भी वही दायित्व है। हम सब में इस दायित्व का वहन करने के लिए सामर्थ्य हों ऐसी बुद्धि, शक्ति भगवान सबको दे।